जैनदर्शन : एक मौलिक चिन्तन

• श्री निर्मल जैन, सतना

संसार और उसके चेतन-अचेतन समस्त द्रव्योंको जानने और समझनेकी जिज्ञासा, जिज्ञासु व्यक्तियों को हमेशासे रही है। दृष्टिगोचर एवं अनुभवगम्य पदार्थोंका अस्तित्व कबसे है, किस कारणसे है और कब तक रहेगा। इनके उत्पन्न होने, बने रहने और विनश जानेकी प्रक्रियाका रहस्य क्या है, कौन सी शक्ति इसके पीछे कार्य करती है। इत्यादि प्रश्नोंका उत्तर पानेके लिए लोग विशिष्ट ज्ञानी-तपस्वी जनोंकी शरणमें जाते रहे हैं। अध्यात्म प्रधान हमारे भारत देशमें इन प्रश्नोंका उत्तर देने वालोंकी भी कमी नहीं रही, विभिन्न मत-मतान्तरोंके जनक या व्याख्याकारोंने अपनी-अपनी मान्यताओंके अनुसार प्रश्नोंको सुलझानेका प्रयास किया परन्तु पक्ष व्यामोहके कारण और दूसरी मान्यताओंको सर्वथा मिथ्या माननेके कारण वे सही स्थितिको न तो समझ सके और न जिज्ञासुओंको समझा सके।

अनन्त धर्मात्मक वस्तुओंकी तहमें वे जितने घुसे अपने सीमित और भ्रामक ज्ञानके कारण उतने ही उलझते चले गये। अपनी मान्यता बनाए रखनेके लिए कुछ न कुछ उत्तर देना भी उन्हें अभीष्ट था सो येन-केन-प्रकारेण उक्ति बिठाकर उत्तर देते रहे। एक दो दार्शनिकोंने कुछ प्रश्नोंको अनावश्यक बताकर टाला भी और कुछ ने अपनी अनभिज्ञता भी जाहिर की, पर जिज्ञासाएँ तो बनी ही रहीं।

जैनदर्शनमें विश्वव्यवस्था और उसके पदार्थोंका सूक्ष्म और वैज्ञानिक विश्लेषण अनादिकालसे होता आया है। भगवान् महावीरके निर्वाणके कुछ काल बाद केवलज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हुई परन्तु भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि और उसके बाद हुए केवली-श्रुतकेवली भगवंतों द्वारा प्रसारित ज्ञानका सहारा लेकर ईसाकी दूसरी शताब्दीसे १५वीं शताब्दी तक बहु श्रुतज्ञ जैनाचार्योंने अनेक ऐसे ग्रन्थोंकी रचना की जिसमें जैनदर्शन और न्यायको पूरी बारीकियोंके साथ प्रस्तुत किया गया है। तथा मिथ्या मान्यताओंका खण्डन भी युक्तिपूर्वक किया गया है। उक्त शास्त्र प्रायः प्राकृत भाषामें लिखे गए, उनकी टीकाएँ भी श्रुतज्ञ आचार्यों द्वारा हुई पर संस्कृत में। कुछ शास्त्र मौलिक रूपसे संस्कृतमें लिखे गए।

इस बीच अन्य दार्शनिकोंने भी अपने मतकी पुष्टिके लिए ग्रन्थ लिखे। साथ ही भारतीय दार्शनिक क्षितिजपर कुछ ऐसे दर्शनों/दार्शनिकोंका भी उदय हुआ जिन्होंने अपने मतकी पुष्टिके लिए कुतर्कोंके द्वारा जैनदर्शनका खण्डन करना प्रारम्भ किया। जैसे स्याद्वादके मूल स्वर स्यात् शब्दका अर्थ संशयके रूपमें प्रतिपादित कर एक भ्रामक व्याख्या उपस्थित की गई।

बीसवीं सदीमें आते-आते भाषाकी दुरूहता जन साधारणके लिए आर्ष ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें बाधक बनने लगी। शास्त्रोंकी हिन्दी टीकाएँ तो हुई परन्तु दर्शन और न्याय विषयक ग्रन्थोंपर कार्य करने वाले विद्वान् विशेष नहीं हुए। कुछ इने-गिने विद्वानोंने ही इन विषयोंको अपने चिन्तनका विषय बनाया।

इस शताब्दीके चौथे दशकमें युवा विद्वान् पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने इन गम्भीर विषयोंका विशद अध्ययन किया, केवल जैनदर्शन ही नहीं, अन्य भारतीय दर्शनोंका भी गहन अध्ययन करके उन्होंने अपने विचारोंको शब्दोंका आकार देना प्रारम्भ किया। जैन ग्रन्थोंके प्रकाशनका स्तुत्य कार्य करनेवाली संस्था भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापनामें तथा विद्वत् परिषद जैसी संस्थाकी स्थापनामें भी पं० महेन्द्रकुमार जीका विशेष योगदान था। भारतीय ज्ञानपीठकी व्यवस्थामें सहयोगी बनकर उन्होंने 'न्यायकुमुदचन्द्र', 'न्यायविनिश्चयविवरण', 'अकलंकग्रन्थत्रय', 'प्रमेयकमलमार्त्तण्ड', 'तत्वार्थवार्तिक', 'तत्वार्थवृत्ति', 'सिद्धिविनि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्चयटीका' आदि ग्रन्थोंका कुशलतापूर्वक सम्पादन किया तथा उनपर चिन्तन पूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखकर उन्हें प्रकाशित भी कराया।

सन् १९११ में जन्म लेने वाले महेन्द्रकुमार जीने अपने तीव्र क्षयोपशम और पुरुषार्थके बलपर अल्पवयमें ही लौकिक एवं पारमार्थिक शिक्षा प्राप्त करके सन् १९३२ से ही काशीमें अध्यापन कार्य प्रारम्भ कर दिया था। अध्यापनके साथ ही आपका अध्ययन भी जारी रहा और उन्होंने एम. ए. शास्त्री, न्यायाचार्य आदि उपाधियाँ अर्जित कर लीं। पं० महेन्द्रकुमार जीका चिन्तन और सम्पादन आदिका कार्य कितना उच्चकोटिका था इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि 'सिद्धिविनिश्चय' टीका के कार्यका सही मूल्यांकन करके हिन्दू विश्वविद्यालय काशीने आपको पी. एच. डी. की उपाधिसे सम्मानित किया।

ग्रन्थोंकी प्रस्तावनामें डॉ० महेन्द्रकुमार जीने जहाँ एक ओर जैनदर्शनकी विशेषताओंको उजागर किया वहीं विभिन्न दार्शनिकों द्वारा किए जा रहे जैनदर्शनके खण्डनका भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया। उन्होंने अपनी लेखनीको किसी लोभ लालच या भयसे प्रभावित नहीं होने दिया। संस्कृत महाविद्यालय काशीमें बौद्धदर्शनके प्राध्यापक होते हुए भी बौद्धदर्शनकी तर्कसम्मत आलोचना एवं महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जैसे मनीषी एवं मान्य विद्वान्के विचारोंकी आलोचना करना इसका प्रमाण है।

उनकी आलोचना ऐसे तथ्योंपर आधारित थी कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान्ने उसे स्वीकार किया और उनकी विद्वत्तासे प्रभावित होकर उन्हें स्याद्वादपर स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ लिखनेके लिये प्रेरित किया। फलस्वरूप डॉ० महेन्द्रकुमार जीके चिन्तन और स्वाध्यायका सार ६०० पृष्ठों वाले मौलिक ग्रन्थ "जैनदर्शन" के रूपमें सामने आया। उन्होंने ग्रन्थके 'दो शब्द' में स्वयं स्वीकार किया है कि राहुल सांकृत्यायनके उलाहनेने ही इस ग्रन्थको लिखनेका संकल्प कराया।

'जैनदर्शन' ग्रन्थ को अपने प्रतिपाद्य विषयपर प्रथम ग्रंथका गौरव प्राप्त हुआ। अक्टूबर १९५५ में श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसीसे इसका प्रकाशन हुआ। प्रकाशकीय वक्तव्यमें संस्थाके कर्णधार विद्वान् पं० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री एवं पं० बंशीधर जी व्याकरणाचार्यने लिखा है कि—

'जैन समाजमें दर्शनशास्त्रके जो इने-गिने विद्वान् हैं उनमें न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार प्रथम हैं। इन्होंने जैनदर्शनके साथ-साथ सब भारतीय दर्शनोंका सांगोपांग अध्ययन किया है तथा बड़े परिश्रम तथा अध्ययनपूर्वक इस ग्रन्थका निर्माण किया है। हिन्दीमें एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता थी जिसमें जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मंतव्योंका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। अतएव हम इस प्रयत्नके लिए पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका जितना आभार मानें, थोड़ा है।'

'जैनदर्शन' में केवल जैनदर्शनको ही व्याख्या नहीं है, अन्य भारतीय दर्शनोंकी मान्यताओंको उदाहरण सहित प्रस्तुत करके लेखकने उनके अधूरेपनको भी उजागर किया है और जैनदर्शनसे उनकी तुलना करनेके लिए आधार प्रस्तुत किए हैं। यद्यपि प्रकाशनके पूर्व कुछ विद्वानोंको भय था कि इस कृतिके प्रकाशन से साम्प्रदायिक विद्वेष फैल सकता है परन्तु निष्पक्ष दार्शनिकों और विचारक विद्वानोंने लेखककी इस कृतिकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए सराहना की, केवल मौखिक सराहना ही नहीं, अनेक विद्वानोंने प्रशंसात्मक पत्र लिखे तथा एक जैनेतर विद्वान् संस्कृत कॉलेज बनारसके पूर्व प्राचार्य पं० मंगलदेव शास्त्री एम० ए०, डी० फिल० ने उक्त ग्रन्थका प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थकी प्रशंसा की एवं जैनदर्शनके सिद्धान्तोंके महत्त्वको स्वीकार किया। प्राक्कथनके अन्तमें आपने लिखा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दीमें कोई ऐसी पुस्तक नहीं थी, जिसमें व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट किया गया हो। बड़ी प्रसन्नताका विषय है कि इस बड़ी भारी कमीको प्रकृत पुस्तकके द्वारा उसके सुयोग्य विद्वान् लेखकने दूर कर दिया। पुस्तककी शैली विद्वत्तापूर्ण है, उसमें प्राचीन मूल ग्रन्थोंके प्रमाणोंके आधारसे जैनदर्शनके सभी प्रमेयोंका बड़ी विशद रीतिसे यथासम्भव सुबोध शैलीमें निरूपण किया गया है। विभिन्न दर्शनोंके सिद्धान्तोंके साथ तद्विषयक आधुनिक दृष्टियोंका भी इसमें सन्निवेष और उनपर प्रसंगानुसार विमर्श करनेका भी प्रयत्न किया गया है। पुस्तक अपनेमें मौलिक-परिपूर्ण और अनूठी है। हम हृदयसे ग्रन्थका अभिनन्दन करते हैं।"

'जैनदर्शन' ग्रन्थमें लेखकने १२ अधिकारोंके माध्यमसे सम्पूर्ण विवेचना की है। 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' नामके प्रथम अध्यायमें उन्होंने कर्मभूमिको प्रारम्भिक स्थितियोंकी चर्चा करते हुए भगवान् आदिनाथसे लेकर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके काल तकको परिस्थितियों और प्रचलित मान्यताओंका उल्लेख किया है। साथ ही जैनधर्म एवं दर्शनके मूल मुद्दोंको उजागर करते हुए श्रुत परम्परा और मान्य आचार्योंका परिचय देते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तोंकी भी संक्षिप्त चर्चा की है। इस अध्यायके उपसंहारमें वे लिखते हैं कि—

तर्क जैसे शुष्क शास्त्रका उपयोग भी जैनाचार्योंने समन्वय और समताके स्थापनमें किया है। दार्शनिक कटाकटीके युगमें भी इस प्रकारकी समता और उदारता तथा एकताके लिए प्रयोजक समन्वयदृष्टिका कायम रखना अहिंसाके पुजारियोंका ही कार्य था। स्याद्वादके स्वरूप तथा उसके प्रयोगकी विधियोंके विवेचनमें ही जैनाचार्योंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करनेमें जैनदर्शनका अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है।' (पृष्ठ २६।)

'विषय प्रवेश' नामक दूसरे अध्यायमें दर्शन शब्दकी उद्भूति, अर्थ आदिको स्पष्ट करते हुए विद्वान् लेखकने विभिन्न दार्शनिकोंके मनमाने अर्थका खण्डन करते हुए जैन दृष्टिकोणकी यथार्थता प्रतिपादित की है। इस अध्यायमें सुदर्शन और कुदर्शनकी व्याख्या करते हुए आपने लिखा है कि—

'जिस प्रकार नयके सुनय और दुर्नय विभाग, सापेक्षता और निरपेक्षताके कारण होते हैं उसी तरह 'दर्शन' के भी सुदर्शन और कुदर्शन (दर्शनाभास) विभाग होते हैं। जो दर्शन अर्थात् दृष्टिकोण वस्तुकी सीमाको उल्लंघन नहीं करके उसे पानेकी चेष्टा करता है, बनानेकी नहीं, और दूसरे वस्तुस्पर्शी दृष्टिकोण-दर्शनको भी उचित स्थान देता है, उसकी अपेक्षा रखता है वह सुदर्शन है और जो दर्शन केवल भावना और विश्वासकी भूमिपर खड़ा होकर कल्पनालोकमें विचरण कर, वस्तुसीमाको लाँघकर भी वास्तविकताका दम्भ करता है, अन्य वस्तुग्राही दृष्टिकोणोंका तिरस्कार कर उनकी अपेक्षा नहीं करता वह कुदर्शन है। दर्शन अपने ऐसे कुपूतोंके कारण ही मात्र संदेह और परीक्षाकी कोटिमें जा पहुँचा है। अतः जैन तीर्थंकरों और आचार्योंने इस बातकी सतर्कतासे चेष्टा की है कि कोई भी अधिगमका उपाय, चाहे वह प्रमाण (पूर्ण ज्ञान) हो या नय (अंशग्राही), सत्यको पानेका यत्न करे, बनानेका नहीं। वह मौजूद वस्तुकी मात्र व्याख्या कर सकता है। उसे अपनी मर्यादाको समझते रहना चाहिए।' (पृष्ठ ३८।)

तीसरे अध्यायका शीर्षक है 'भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन' इस अध्यायका प्रारम्भ करते हुए लेखकने कहा है कि परम अहिंसक तीर्थंकर भगवान्ने मानसिक अहिंसाके लिए अनेकान्तदृष्टिके उपयोगकी बात कही है।

अनेकान्तको अहिंसाका आधारभूत तत्त्वज्ञान, स्याद्वादको एक निर्दोष भाषाशैली और स्यात्को प्रहरी

निरूपित करते हुए ठोस तर्क देकर यह भी सिद्ध किया है कि स्यातका अर्थ शायद नहीं है। अनेकान्त दर्शनको न्यायाधीशकी उपमा देते हुए कहा गया है कि—

'प्रत्येक पक्षके वकीलों द्वारा अपने पक्षके समर्थनके लिए संकलित दलीलोंकी फाइलकी तरह न्यायाधीशका फैसला भले ही आकारमें बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता, सूक्ष्मता और निष्पक्षपातिता अवश्य होती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भण्डार-भूत एकान्तवादी दर्शनोंकी तरह जैनदर्शनमें विकल्प या कल्पनाओंका चरम विकास न हो, पर उसकी वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, समतावृत्ति एवं अहिंसाधारितामें तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्योंने वस्तुस्थितिके आधारसे प्रत्येक दर्शनके दृष्टिकोणके समन्वयकी पवित्र चेष्टा की है और हर दर्शनके साथ न्याय किया है। यह वृत्ति अहिंसाहृदयीके सुसंस्कृत मस्तिष्ककी उपज है। यह अहिंसा स्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्य स्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्यको पाये बिना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमें अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की है।' (पृ० ५५।)

'लोक व्यवस्था' नामके चौथे अध्यायमें लोकके स्वरूप और छहों द्रव्योंका विवेचन है। इसकी चर्चामें स्वाभाविक ही द्रव्यके परिणमन, सत् तथा उसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होनेके प्रकरण आए हैं जिन्हें छहों द्रव्योंमें तर्क और उदाहरणके साथ समझाया गया है।

विभाव परिणमनकी चर्चा करते हुए निमित्त और उपादानकी भी विशद व्याख्या इस अध्यायमें की गई है। कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवादकी विभिन्न मान्यताओंकी समीक्षा भी इस अध्यायमें है। लेखकने केवल अन्य दर्शनोंकी भ्रामक मान्यताओंका ही खण्डन नहीं किया है, वरन् जैनदर्शनकी अनेकान्त पद्धतिमें आये एकान्त प्रदूषणकी भी आलोचना की है। नियतिवादके एक ऐसे ही प्रकरणमें श्रीकानजी स्वामी लिखित पुस्तक 'वस्तुविज्ञानसार' की मान्यताओंको एकान्तिक निरूपित करते हुए लेखकने कहा है कि—

'नियतिवादका एक आध्यात्मिक रूप और निकला है। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्यकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है वह अपने नियत स्वभावके कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादानशक्तिसे ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, वहाँ निमित्तकी उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलानेकी आवश्यकता नहीं। इनके मतसे पेट्रोलसे मोटर नहीं चलती, किन्तु मोटरको चलना ही है और पेट्रोलको जलना ही है। और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्यके शुद्ध स्वभावके नामपर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करते हैं। जिसको जहाँ जिस रूपमें निमित्त बनना है उस समय उसकी वहाँ उपस्थिति हो ही जायगी। इस नियतिवादसे पदार्थोंके स्वभाव और परिणमनका आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षणका अनन्तकाल तकका कार्यक्रम बना दिया गया है, जिसपर चलनेको हर पदार्थ बाध्य है। किसीको कुछ नया करनेका नहीं है। नियतिवादियोंके जो विविध रूप विभिन्न समयोंमें हुए हैं उन्होंने सदा पुरुषार्थको रेड़ मारी है और मनुष्यको भाग्यके चक्करमें डाला है।' (पृष्ठ ८४।)

आचार्य कुन्दकुन्दके अकर्तृत्ववादकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि समयसारमें स्वभावका वर्णन करनेवाली गाथाको कुछ विद्वान् नियतिवादके समर्थनमें लगाते हैं परन्तु इस गाथामें सीधी बात यही बताई गई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया गुण नहीं ला सकता, जो आयेगा वह उपादान योग्यताके अनुसार हो आवेगा।

लेखकने प्रश्न उठाया है कि जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है तब पुण्य-पाप और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सदाचार-दुराचारकी क्या परिभाषा बनेगी ? क्योंकि इस नियतिवादमें तो 'ऐसा क्यों हुआ' का एक ही उत्तर है कि 'ऐसा होना ही था'।

इस अध्यायमें कर्मवाद, यदृच्छावाद, पुरुषवाद, ईश्वरवाद, भूतवाद, अव्याकृतवाद, उत्पादादित्रयात्मकवाद, जड़वाद और परिणामवादकी मान्यताओंकी भी समीक्षा की गई है।

पदार्थके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए ग्रन्थमें छोटेसे पाँचवें अध्यायके रूपमें अलगसे अध्याय रखा गया है जिसमें पदार्थके गुण और धर्मका स्वरूपास्तित्वका और सामान्य विशेषका विवेचन है।

'षट्द्रव्य विवेचन' नामके छठें अधिकारमें छह द्रव्योंकी सामान्य विवेचनाके बाद जीव द्रव्यके संसारी और मुक्त आदि भेद, पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध आदि भेद, बन्धकी प्रक्रिया, धर्म-अधर्म, आकाश और काल द्रव्योंके कार्योंका विवेचन किया गया है तथा इनके स्वरूपमें बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदि दर्शनोंकी भ्रान्तियोंको भी उजागर किया गया है। एक द्रव्यके दूसरे द्रव्यपर पड़नेवाले प्रभावकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि—

'इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि "अच्छा वातावरण बनाओ; मंगलमय भावोंको चारों ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप संजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोंका असमयमें पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोंका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोंका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नहीं है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।' (पृष्ठ १५२।)

सातवें अधिकारका शीर्षक है 'तत्त्व निरूपण'। इसका प्रयोजन बताते हुए प्रारम्भमें ही कहा गया है कि यद्यपि विश्व षट्द्रव्यमय है परन्तु मुक्तिके लिए जिस तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है वे तत्त्व सात हैं। विश्व व्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है। परन्तु तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्व व्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी कार्यकारी नहीं होता।

सात तत्त्वोंकी विवेचना करते हुए लेखकने लिखा है कि इन सात तत्त्वोंका मूल है आत्मा। स्वभावसे अमूर्तिक-अखण्डअविनाशी आत्माको जैन दार्शनिकों द्वारा अनादिबद्ध माननेके कारणोंकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है। कर्म संयोगके कारण अनादिसे जीव मूर्तिक और अशुद्ध माना गया है परन्तु एक बार शुद्ध-अमूर्तिक हो जानेके बाद फिर वह अशुद्ध या मूर्तिक नहीं होता।

आत्मदृष्टिको ही सम्यक्दृष्टि निरूपित करते हुए कहा है कि बन्ध, मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक है जिसे शुद्ध होना है पर जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी यह अशुद्ध दशा स्वरूप प्रच्युतिरूप है। यह दशा स्वस्वरूपको भूलकर पर पदार्थोंमें ममकार अहंकार करनेके कारण हुई है अतः इस अशुद्ध दशाकी समाप्ति स्वस्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकती है।

संसारके कारण आस्रव और बन्ध तथा मोक्षके कारण संवर और निर्जरा तत्त्वोंकी समुचित व्याख्या करके मोक्ष तत्त्वकी चर्चा करते हुए लेखकने कहा है कि अन्य दार्शनिकोंने मोक्षको निर्वाण नामसे व्यवहार करके आत्म निर्वाण को दीप निर्वाण आदिकी तरह व्याख्यायित कर दिया है पर जैन दार्शनिकोंने सात तत्त्वोंमें उसका नाम ही मोक्ष तत्त्व रखा है जिसका अर्थ है छूटना।

अध्यायके अन्तमें मोक्ष-मार्गकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यचक्चारित्रकी एकता ही मोक्ष का मार्ग है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोषक या वर्धक नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, मोक्षका साधन नहीं होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्म शोधन करे वही मोक्षका साधन है। अन्ततः सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र शुद्धि ही है। इस अध्यायमें एक जगह सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषाके रूपमें भी एक अच्छी बात कही गई है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते हैं सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।'

'प्रमाण मीमांसा' नामक आठवाँ अध्याय इस ग्रन्थका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। लगभग २०० पृष्ठोंमें समाहित इस अध्यायमें प्रमाण ज्ञानकी विशद विवेचना की गई है। प्रारम्भमें ही ज्ञान और दर्शनका अन्तर समझाते हुए कहा है कि जड़ पदार्थोंसे आत्माको भिन्न करनेवाला गुण या स्वरूप है चैतन्य, यही चैतन्य अवस्था विशेषमें निराकार रहकर 'दर्शन' कहलाता है और साकार होकर 'ज्ञान'। प्रमाणके स्वरूपका निरूपण करते हुए कहा है कि प्रमाणका सामान्यतया अर्थ व्युत्पत्तिलब्ध है अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान होता है उस द्वारका नाम प्रमाण है।

तदाकारता, सामग्री, इन्द्रिय व्यापार आदिको प्रमाण न माननेके कारणोंकी व्याख्या करके बौद्धदर्शनके क्षणिकवादसे उत्पन्न भ्रान्तियोंका भी निराकरण किया गया है। जैनदर्शन पदार्थको एकान्त क्षणिक न मानकर कथंचित नित्य भी मानता है। वस्तु अनन्त धर्मवाली है किसी ज्ञानके द्वारा वस्तुके किन्हीं अंशोंका निश्चय होनेपर भी अग्रहीत अंशोंको जाननेके लिए प्रमाणान्तर को अवकाश रहता है।

प्रमाणके भेदोंकी चर्चा करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण और परोक्ष प्रमाण तथा उसके सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष, सन्निकर्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष, अनुमान, स्वार्थानुमान, परार्थानुमान, प्रत्याक्षाभास, परोक्षभासा आदि भेदोंकी भी विशद व्याख्या करके समझाया गया है। ज्ञानकी उत्पत्तिका क्रम बताते हुए उसके अवग्रह, ईहा आदि भेदोंकी व्याख्या है तथा सभी ज्ञानोंको स्वसंवेदी निरूपित किया है। इसी सन्दर्भमें विपर्यय आदि मिथ्याज्ञानों की भी चर्चा है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानके विश्लेषणके बाद केवलज्ञानका स्वरूप बताते हुए 'सर्वज्ञताका इतिहास' शीर्षकसे जैनाचार्यों भगवान् कुन्दकुन्द, वीरसेन आदिके द्वारा की गई सर्वज्ञताकी व्याख्याओंको अन्य दर्शनोंकी सर्वज्ञता की अपेक्षा प्रामाणिक सिद्ध किया गया है।

इस आठवें अध्यायमें व्याप्ति और व्याप्य-व्यापार सम्बन्ध, अभाव, साध्य-साधन सम्बन्ध, शब्दार्थ प्रतिपक्ति, प्राकृत, अपभ्रंश शब्दोंकी अर्थवाचकताकी व्याख्याके साथ शब्दाद्वैतवाद, ब्रह्मवाद, सांख्यवाद, बौद्धों का विशेष पदार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदिकी भी विस्तारसे समोक्षा की गई है जिससे विषय स्पष्ट होता है और पाठकको वस्तुस्वरूप की निर्दोष अवधारणा हो जाती है।

नौवाँ अध्याय है 'नय विचार, इसमें नयका लक्षण तथा नयके भेदोंका भलीभाँति निरूपण किया गया है, सुनय-दुर्नय, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, परमार्थ-व्यवहार, निश्चयव्यवहार आदि भेदोंके अतिरिक्त नय के तीन और सात भेदोंको भी समझाया गया है। साथ ही नयाभासके माध्यमसे भी नयोंकी व्याख्या की गई है इसमें प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंके नयवादोंका विश्लेषण तो है ही, सम्यक् नय माननेवाले नयाभासियोंकी भी आलोचना की गई है। जैनाचार्योंकी नय प्ररूपणाका उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

'अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है ? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है ? बीचके पड़ाव तुम्हारे साध्य नहीं हैं। तुम्हें तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो-टूक वर्णन किए बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोंसे उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादिपर अचेतन पदार्थोंसे नाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावनामात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि वे सत्यस्थितिका अलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवनमें रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामोंमें उपादान होते हैं, पर ये परिणमन परस्परहेतुक-अन्योन्यनिमित्त हैं।' उन्होंने 'अण्णोण्णणिमित्तेण' पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनों सामग्रीसे होता है।' (पृष्ठ ४६८-४६९।)

'अतः निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमें कि 'मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ', यह कहना चाहिए कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योंकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नहीं है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपंकमें ही वह लिप्त रहा है। यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तब उनका संयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादिकी अशुद्ध आत्मामें शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता-भविष्यतका ही तो विचार है। हमारा भूत और वर्तमान अशुद्ध है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्जवल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नहीं, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है ? उसी तत्त्वको आचार्य कुन्दकुन्द बड़ी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त-शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसार जोवोंको केवली श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमें ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है। (पृष्ठ ४७१-४७२।)

ग्रन्थका दसवाँ अध्याय है 'स्याद्वाद और सप्तभंगी' इस अध्यायमें स्याद्वादकी उद्भूतिका कारण बताते हुए विद्वान् लेखकने कहा है कि जब मनुष्यकी दृष्टि अनेकान्त तत्त्वका स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझानेका ढंग भी निराला हो जाता है, वह उस शैलीसे वचन प्रयोग करना चाहता है जिससे वस्तुतत्वका यथार्थ प्रतिपादन हो जाए। इस शैलीका भाषाके निर्दोष प्रकारकी आवश्यकताने स्याद्वादका आविष्कार किया है। इसमें लगा हुआ स्यात् शब्द प्रत्येक वाक्यके सापेक्ष होनेकी सूचना देता है। स्यात् एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नहीं जाने देता तथा अविक्षित धर्मोंके अधिकारका संरक्षण करता है। स्यात् शब्द जहाँ अस्तित्व धर्मकी स्थिति सुदृढ़ और सहेतुक बनाता है वहीं एक न्यायाधीशकी तरह यह भी कह देता है कि हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार सीमाको समझो, स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम वस्तुमें रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति नामका तुम्हारा भाई भी उसी वस्तुमें रहता है।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताका सुन्दर विश्लेषण करते हुए उसमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव एवं अत्यन्ताभावका सामंजस्य भी बिठाया गया है। सद्सदात्मक तत्त्व, एकानेकात्मक तत्त्व, नित्यानित्यात्मक तत्व और भेदा-भेदात्मक तत्त्व भी किस प्रकार वस्तुमें एक साथ रह लेते हैं इसकी प्ररूपणा भी बहुत स्पष्ट रूपसे की गई है। सप्तभंगीकी व्याख्या करते हुए यह भी समझाया है कि भंग सात ही क्यों हैं, अवक्तव्य भंगका क्या अर्थ है तथा भंगोंमें सकलविकलादेशता किस प्रकार बनती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूँकि स्याद्वादको लेकर जैनदर्शनकी आलोचना पूर्ववर्ती और वर्तमान अनेक दार्शनिकोंने की है अतः लेखकने इस अध्यायमें उन सबके मतोंका उद्धरण देकर स्याद्वाद पद्धतिसे ही उनका निराकरण भी कर दिया है। आलोचना करनेवालोंकी तो लम्बी सूची है परन्तु कुछ वर्तमान जैनेतर दार्शनिकोंने स्याद्वादकी महत्ताको स्वीकार भी किया है जैसे—

महामहोपाध्याय डॉ० गंगानाथ झा लिखते हैं कि 'जबसे मैंने शंकराचार्य द्वाराजैन सिद्धांतका खण्डन पढ़ा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धांतमें बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नहीं समझा।'

दर्शनशास्त्रके अद्वितीय विद्वान् प्रो० फणिभूषण अधिकारीने तो और भी स्पष्ट शब्दोंमें लिखा था कि—'जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धांतको जितना गलत समझा गया है, उतना किसी अन्य सिद्धांतको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धांतके प्रति अन्याय किया है, यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी किन्तु भारतके इस महान् विद्वान्के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने जैन-धर्मके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।'

इस प्रकार इस अध्यायमें स्याद्वादपर अनेक मतावलम्बी दार्शनिकोंके विचारोंका ऊहापोह संकलित है। स्याद्वादपर लगाए गए आक्षेपोंका जो परिहार पूर्वमें हो हमारे अकलंकदेव, हरिभद्र आदि आचार्योंने किया था वह भी इसमें संक्षेपसे उद्धृत है।

ग्यारहवें अध्यायका शीर्षक है 'जैन दर्शन और विश्व शान्ति' इस अधिकारको लिखनेमें लेखकने अपने मौलिक विचार ही सँजोए हैं, परन्तु वे विचार जैनदर्शनकी महानता एवं विश्व शान्तिके परिप्रेक्ष्यमें उसकी उपयोगिताको उजागर करनेवाले हैं।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समान स्वभाव और समान धर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकार भेदको नहीं मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तवबहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड़ पदार्थोंको अपने अधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने अधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है। (पृष्ठ ५७३ ।)

ग्रन्थका अंतिम अध्याय यद्यपि एक ग्रन्थ सूचीके रूपमें है परन्तु वह सामान्य पाठकोंसे लेकर चिंतक और शोधकर्ता विद्वानों तकके लिए अत्यन्त उपयोगी है।

अध्यायके अन्तमें लेखककी यह टिप्पणी भी है कि यहाँ प्राकृत/संस्कृत ग्रन्थोंका ही उल्लेख किया गया है। कन्नड़ भाषामें भी अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ पाई जाती हैं तथा कुछ जैनाचार्योंने अजैन दर्शन ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी लिखी हैं वे इसमें सम्मिलित नहीं हैं।

इस प्रकार डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी महान् कृति 'जैनदर्शन' हमें जैनदर्शनके सिद्धांतोंको सही परिप्रेक्ष्यमें समझनेके लिए तथा अन्य मतावलम्बी दार्शनिकोंकी भ्रामक मान्यताओंसे बचानेके लिए दीप-शिखाका कार्य पिछले चार दशकोंसे करती आ रही है, आज भी कर रही है और आगे भी करती रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org